

Chapter छह

नारद तथा व्यासदेव का संवाद

सूत उवाच

एवं निशम्य भगवान्देवर्षेर्जन्म कर्म च ।

भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन् व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; एवम्—इस प्रकार; निशम्य—सुनकर; भगवान्—ईश्वर का शक्त्यावेश अवतार; देवर्षेः—देवर्षि का; जन्म—जन्म; कर्म—कर्म; च—तथा; भूयः—पुनः; पप्रच्छ—पूछा; तम्—उनसे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणो; व्यासः—व्यासदेव ने; सत्यवती-सुतः—सत्यवती का पुत्र ।

सूत ने कहा : हे ब्राह्मणो, इस तरह श्री नारद के जन्म तथा कार्यकलापों के विषय में सब कुछ सुन लेने के बाद ईश्वर के अवतार तथा सत्यवती के पुत्र, श्री व्यासदेव ने इस प्रकार पूछा ।

तात्पर्य : व्यासदेव नारदजी की सिद्धि के विषय में आगे भी जानने के इच्छुक थे, अतः उन्होंने उनके विषय में और अधिक जानना चाहा। इस अध्याय में नारद जी बताएँगे कि जब वे भगवान् के विरह भाव में लीन थे और अत्यन्त कष्ट का अनुभव कर रहे थे, तब भगवान् ने किस प्रकार उन्हें थोड़ी देर के लिए दर्शन दिया ।

व्यास उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव ।

वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद्भवान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

व्यासः उवाच—श्री व्यासदेव ने कहा; भिक्षुभिः—महान साधुओं द्वारा; विप्रवसिते—अन्य स्थानों को चले जाने पर; विज्ञान—अध्यात्म का वैज्ञानिक ज्ञान; आदेष्टृभिः—जिन्होंने उपदेश दिया था; तव—आपका; वर्तमानः—वर्तमान; वयसि—आयु के; आद्ये—प्रारम्भ में; ततः—तत्पश्चात्; किम्—क्या; अकरोत्—किया; भवान्—आपने ।

श्री व्यासदेव ने (नारद जी से) कहा : आपने उन महामुनियों के चले जाने पर क्या किया जिन्होंने आपके इस जन्म के प्रारम्भ होने से पूर्व आपको दिव्य वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान किया था ?

तात्पर्य : व्यासदेव स्वयं नारद जी के शिष्य थे, अतएव गुरु से दीक्षित होने के बाद नारद ने जो कुछ किया, उसे सुनने की उत्कंठा स्वाभाविक थी। वे नारद की ही भाँति सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिए उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करना चाह रहे थे। आध्यात्मिक गुरु से पूछने की आकांक्षा (जिज्ञासा) प्रगति पथ पर बढ़ने के लिए आवश्यक है। इस विधि का शास्त्रीय नाम *सद्धर्मपृच्छा* है।

स्वायम्भुव कया वृत्त्या वर्तितं ते परं वयः ।

कथं चेदमुदस्राक्षीः काले प्राप्ते कलेवरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

स्वायम्भुव—हे ब्रह्मा के पुत्र; कया—किस परिस्थिति में; वृत्त्या—वृत्ति; वर्तितम्—बिताया; ते—आपने; परम्—दीक्षा के बाद; वयः—आयु; कथम्—कैसे; च—तथा; इदम्—यह; उदस्राक्षीः—छोड़ा; काले—समय आने पर, यथासमय; प्राप्ते—प्राप्त होने पर; कलेवरम्—शरीर को।

हे ब्रह्मा के पुत्र, आपने दीक्षा लेने के बाद किस प्रकार जीवन बिताया ? और यथासमय अपने पुराने शरीर को त्याग कर आपने यह शरीर कैसे प्राप्त किया ?

तात्पर्य : पूर्वजन्म में नारद मुनि एक सामान्य दासीपुत्र थे, अतः वे शाश्वत जीवन, आनन्द तथा ज्ञान से परिपूर्ण इस स्वरूप को किस प्रकार प्राप्त कर सके, यह जानना महत्त्वपूर्ण है। श्री व्यासदेव ने इच्छा की, कि नारद जी ये सारे तथ्य सबों की तुष्टि के लिए प्रकट करें।

प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते मुनिसत्तम ।

न ह्येष व्यवधात्काल एष सर्वनिराकृतिः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

प्राक्—पूर्ववर्ती; कल्प—ब्रह्मा के एक दिन का समय; विषयाम्—विषय वस्तु; एताम्—ये सब; स्मृतिम्—सुधि, याद; ते—तुम्हारी; मुनि-सत्तम—हे महामुनि; न—नहीं; हि—निश्चय ही; एषः—ये सब; व्यवधात्—अन्तर किया; कालः—समय आने पर; एषः—ये; सर्व—सभी; निराकृतिः—संहार।

हे महामुनि, समय आने पर काल हर वस्तु का संहार कर देता है, अतएव यह कैसे सम्भव हुआ है कि यह विषय, जो ब्रह्मा के इस दिन के पूर्व घटित हो चुका है, अब भी आपकी स्मृति में काल द्वारा अप्रभावित जैसे का तैसा बना हुआ है ?

तात्पर्य : जिस प्रकार भौतिक शरीर के विनाश के बाद भी आत्मा नष्ट नहीं होता, उसी तरह आध्यात्मिक चेतना भी नष्ट नहीं होती। श्री नारद ने पूर्व कल्प में, जब उन्हें यह शरीर प्राप्त था, तभी यह आध्यात्मिक चेतना विकसित कर ली थी। भौतिक शरीर की चेतना का अर्थ है, भौतिक शरीर के माध्यम द्वारा अभिव्यक्त की गई आध्यात्मिक चेतना। यह चेतना निकृष्ट, विनाशशील तथा विकृत होती है। लेकिन आध्यात्मिक स्तर पर अतिमानस की पराचेतना आत्मा के समान ही श्रेष्ठ होती है और कभी विनष्ट नहीं होती।

नारद उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिर्मम ।

वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकारषम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; भिक्षुभिः—मुनियों के द्वारा; विप्रवसिते—अन्य स्थान को चले जाने पर; विज्ञान—व्यावहारिक आध्यात्मिक ज्ञान; आदेष्टृभिः—जिन्होंने मुझे प्रदान किया था; मम—मेरा; वर्तमानः—वर्तमान; वयसि आद्ये—इस जीवन के पूर्व; ततः—तत्पश्चात्; एतत्—इतना; अकारषम्—सम्पन्न किया।

श्री नारद ने कहा : जिन महर्षियों ने मुझे अध्यात्म का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान किया था, वे अन्य स्थानों को चले गये और मुझे इस प्रकार से अपना जीवन बिताना पड़ा।

तात्पर्य : पूर्वजन्म में जब नारदजी को महर्षियों ने कृपापूर्वक आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया था, तो उनके जीवन में प्रत्यक्ष परिवर्तन आया था, यद्यपि वे तब पाँच वर्ष के बालक थे। प्रामाणिक गुरु से दीक्षा प्राप्त करने के बाद दिखाई देने वाला यह महत्त्वपूर्ण लक्षण है। भक्तों की वास्तविक संगति से जीवन में आध्यात्मिक अनुभूति के लिए तेजी से परिवर्तन आता है। नारद मुनि के पूर्व जीवन में यह कैसे घटा इसका एक-एक करके इस अध्याय में वर्णन किया गया है।

एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किङ्करी ।

मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एक-आत्मजा—केवल एक सन्तान वाली; मे—मेरी; जननी—माता ने; योषित्—स्त्री जाति; मूढा—मूर्ख; च—तथा; किङ्करी—दासी; मयि—मुझ; आत्मजे—सन्तान में; अनन्य-गतौ—जिसकी रक्षा का कोई अन्य साधन न हो; चक्रे—किया; स्नेह-अनुबन्धनम्—प्रेम के बन्धन में बँधा।

मैं अपनी माता का इकलौता पुत्र था। वह न केवल भोलीभाली स्त्री थी, अपितु दासी भी थी। चूँकि मैं उसकी एकमात्र सन्तान था, अतः उसकी रक्षा का कोई अन्य साधन न था, अतएव उसने मुझे अपने स्नेह-पाश में बाँध रखा था।

सास्वतन्त्रा न कल्पासीद्योगक्षेमं ममेच्छती ।

ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; अस्वतन्त्रा—आश्रित थी; न—नहीं; कल्पा—समर्थ; आसीत्—थी; योग-क्षेमम्—लालन-पालन; मम—मेरा; इच्छती—यद्यपि उत्सुक; ईशस्य—ईश्वर का; हि—क्योंकि; वशे—वश में; लोकः—प्रत्येक व्यक्ति; योषा—गुड़िया; दारु-मयी—काठ की बनी; यथा—जिस तरह।

वह मेरा लालन-पालन अच्छी तरह करना चाहती थी, लेकिन पराश्रित होने के कारण वह मेरे लिए कुछ भी नहीं कर पाती थी। यह संसार परमेश्वर के पूर्ण नियन्त्रण में है, अतएव प्रत्येक व्यक्ति कठपुतली नचाने वाले के हाथ में किसी काठ की गुड़िया के समान है।

अहं च तद्ब्रह्मकुले ऋषिवांस्तदुपेक्षया ।

दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—भी; तत्—उस; ब्रह्म-कुले—ब्राह्मणों की पाठशाला में; ऋषिवान्—रहता था; तत्—उसका; उपेक्षया—आश्रित; दिक्-देश—दिशा तथा देश; काल—समय; अव्युत्पन्नः—अनुभवविहीन; बालकः—मात्र बालक; पञ्च—पाँच; हायनः—वर्ष का।

जब मैं केवल पाँच वर्ष का बालक था, तो एक ब्राह्मण की पाठशाला में रहता था। मैं अपनी माता के स्नेह पर आश्रित था और मुझे विभिन्न क्षेत्रों का कोई अनुभव न था।

एकदा निर्गतां गेहाहुहन्तीं निशि गां पथि ।

सर्पोऽदशत्पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; निर्गताम्—चले जाने पर; गेहात्—घर से; दुहन्तीम्—दुहने के लिए; निशि—रात्रि में; गाम्—गाय को; पथि—रास्ते में; सर्पः—सर्प ने; अदशत्—डस लिया; पदा—पाँव में; स्पृष्टः—इस प्रकार काटी गई; कृपणाम्—बेचारी स्त्री; काल-चोदितः—परम काल के वशीभूत हो कर।

एक बार जब मेरी माँ बेचारी रात्रि के समय गाय दुहने जा रही थी, तो परम काल से प्रेरित एक सर्प ने मेरी माता के पाँव में डस लिया।

तात्पर्य : एक सत्यनिष्ठ आत्मा को ईश्वर के पास खींच लाने की यह विधि है। बेचारा बालक केवल अपनी स्नेहमयी माता की देख-भाल में रह रहा था, तो भी उसकी माता को परम इच्छा के फलस्वरूप इस संसार से उठा लिया गया, जिससे वह बालक पूर्ण रूप से भगवान् की कृपा पर आश्रित हो जाय।

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः ।

अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; तत्—उस; अहम्—मैंने; ईशस्य—ईश्वर के; भक्तानाम्—भक्तों की; शम्—दया; अभीप्सतः—चाहते हुए; अनुग्रहम्—विशेष आशीष; मन्यमानः—इस प्रकार सोचता हुआ; प्रातिष्ठम्—प्रस्थान किया; दिशम् उत्तराम्—उत्तर दिशा में।

मैंने इसे भगवान् की विशेष कृपा माना, क्योंकि वे अपने भक्तों का भला चाहने वाले हैं और इस प्रकार सोचता हुआ मैं उत्तर की ओर चल पड़ा।

तात्पर्य : भगवान् के विश्वस्त भक्त पग पग को भगवान् का वरदायक आदेश समझते हैं। जिसे लौकिक दृष्टि से विषम या कठिन क्षण समझा जाता है, उसे भगवान् की विशेष कृपा के रूप में स्वीकार किया जाता है। लौकिक समृद्धि एक प्रकार का भौतिक ज्वर है, किन्तु भगवान् के अनुग्रह से इस ज्वर का तापमान धीरे धीरे गिरता जाता है और पद पद पर आध्यात्मिक स्वास्थ्य-लाभ होता रहता है। संसारी लोग इसका गलत अर्थ लगाते हैं।

स्फीताञ्जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान् ।

खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

स्फीतान्—अत्यन्त समृद्ध; जन-पदान्—जनपद; तत्र—वहाँ; पुर—नगर; ग्राम—गाँव; व्रज—बड़े-बड़े खेत; आकरान्—खानें; खेट—कृषि योग्य खेत; खर्वट—घाटियाँ; वाटी:—पुष्प वाटिकाएँ; च—तथा; वनानि—जंगल; उपवनानि—पौधघर; च—तथा ।

प्रस्थान करने के बाद मैं अनेक समृद्ध जनपदों, नगरों, गाँवों, पशु-क्षेत्रों, खानों, खेतों, घाटियों, पुष्पवाटिकाओं, पौधशालाओं तथा प्राकृतिक जंगलों से होकर गुजरा ।

तात्पर्य : वर्तमान सृष्टि के पूर्व भी कृषि, खनन, फार्मिंग, उद्योग, उद्यान-विज्ञान आदि के क्षेत्र में आज के ही समान मनुष्य की गतिविधियाँ थीं और यही गतिविधियाँ अगली सृष्टि में भी बनी रहेंगी। करोड़ों वर्षों के बाद प्रकृति के नियम द्वारा किसी एक सृष्टि का शुभारम्भ होता है और विश्व का इतिहास प्रायः इसी रूप में पुनरावर्तित होता रहता है। लौकिक अज्ञानी-जन पुरातात्विक उत्खननों में अपने समय को व्यर्थ गँवाते रहते हैं, किन्तु जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की खोज नहीं कर पाते। श्री नारद मुनि ने आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा पाने के बाद, भले ही अभी वे केवल एक बालक थे, आर्थिक विकास में अपना एक क्षण भी नहीं गँवाया, यद्यपि वे नगरों तथा गाँवों, खानों तथा उद्योगों में से होकर गुजरे थे। वे निरन्तर प्रगतिशील आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ते गये। श्रीमद्भागवत इतिहास की पुनरावृत्ति है, जो करोड़ों वर्ष पूर्व घटित हुआ था। जैसाकि यहाँ कहा गया है, इतिहास की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं को ही चुनकर इस दिव्य साहित्य में अंकित किया गया है।

चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान् ।

जलाशयाञ्छिवजलान्नलिनीः सुरसेविताः ।

चित्रस्वनैः पत्ररथैर्विभ्रमद्भ्रमरश्रियः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

चित्र-धातु—मूल्यवान् खनिज यथा सोना चाँदी तथा ताँबा; विचित्र—विविधतापूर्ण; अद्रीन्—पहाड़ियाँ; इभ-भग्न—विशालकाय हाथियों द्वारा तोड़ी गई; भुज—शाखाएँ; द्रुमान्—वृक्ष; जलाशयान् शिव—स्वास्थ्यवर्धक; जलान्—जलाशय; नलिनीः—कमल के फूल; सुर-सेविताः—स्वर्ग के निवासियों द्वारा जिसकी कामना की जाय; चित्र-स्वनैः—हृदयग्राही; पत्र-रथैः—पक्षियों द्वारा; विभ्रमत्—मदान्ध; भ्रमर-श्रियः—भौरों से अलंकृत ।

मैं सोने, चाँदी तथा ताँबे जैसे विविध खनिजों के आगारों से परिपूर्ण पर्वतों तथा सुन्दर कमलों से पूर्ण जलाशयों से युक्त भूभागों को पार करता रहा जो स्वर्ग के वासियों के उपयुक्त थे और मदान्ध भौरों तथा चहचहाते पक्षियों से सुशोभित थे।

नलवेणुशरस्तन्बकुशकीचकगह्वरम् ।

एक एवातियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत् ।

घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

नल—नरकट; वेणु—बाँस; शरः—सरपत; तन्ब—से परिपूर्ण; कुश—नुकीली घास, कुश; कीचक—अपतृण; गह्वरम्—गुफाएँ; एकः—अकेले; एव—केवल; अतियातः—दुर्गम; अहम्—मैंने; अद्राक्षम्—देखा; विपिनम्—गहन जंगल; महत्—विशाल; घोरम्—भयावना; प्रतिभय-आकारम्—भयानक; व्याल—सर्प; उलूक—उल्लू; शिव—सियार; अजिरम्—मैदान।

तब मैं अनेक जंगलों में से होकर अकेला गया जो नरकटों, बाँसों, सरपतों, कुशों, अपतृणों तथा गह्वरों से परिपूर्ण थे और जिनसे अकेले निकल पाना कठिन था। मैंने अत्यन्त सघन, अंधकारपूर्ण तथा अत्यधिक भयावने जंगल देखे जो सर्पों, उल्लुओं तथा सियारों की क्रीड़ास्थली बने हुए थे।

तात्पर्य : किसी भी परिव्राजकाचार्य का यह कर्तव्य होता है कि वह समस्त जंगलों, पर्वतों, नगरों, ग्रामों आदि का विचरण करते हुए भगवान् की सृष्टि की विविधता का अनुभव करे, ईश्वर के प्रति श्रद्धावान बने, मन में दृढ़ता लाए तथा साथ ही साथ लोगों को ईश्वर के सन्देश से प्रबोधित कराए। संन्यासी को भय त्याग कर ये सारे संकट उठाने पड़ते हैं। वर्तमान युग के सबसे विशिष्ट संन्यासी भगवान् चैतन्य हैं, जिन्होंने इसी विधि से मध्य भारत के जंगलों में से होकर यात्रा की और शेरों, भालुओं, सर्पों, हिरनों, हाथियों तथा जंगल के अन्य पशुओं को भी प्रबुद्ध बनाया। इस कलियुग में सामान्य व्यक्ति के लिए संन्यास वर्जित है। जो केवल गेरुवा चोला पहनकर अपना दिखावा करता है, वह मौलिक आदर्श संन्यासी के समान नहीं होता। फिर भी मनुष्य को चाहिए कि सामाजिक सम्बन्धों को तोड़ने का व्रत ले और केवल भगवान् की सेवा में ही जीवन बिताए। वेश बदलना तो एक औपचारिकता मात्र है। भगवान् चैतन्य ने संन्यासी के नाम

का स्वीकार नहीं किया था, और इस कलियुग के तथाकथित संन्यासियों को चाहिए कि वे भगवान् चैतन्य का अनुसरण करते हुए अपने मूल नामों को न बदलें। इस युग में भगवान् के पवित्र यश के श्रवण तथा कीर्तन वाली भक्ति की संस्तुति की गई है और जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन छोड़कर संन्यास-व्रत ग्रहण करता है, उसे नारद या चैतन्य जैसे परिव्राजकाचार्यों का अनुकरण न करके, किसी पवित्र स्थान में बैठ कर अपना सारा समय वृन्दावन के षट् गोस्वामी-जैसे आचार्यों द्वारा संकलित पवित्र शास्त्रों के श्रवण एवं कीर्तन में व्यतीत करना चाहिए।

परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं तृट्परीतो बुभुक्षितः ।

स्नात्वा पीत्वा हृदे नद्या उपस्पृष्टो गतश्रमः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

परिश्रान्त—थका हुआ; इन्द्रिय—शरीर से; आत्मा—मन से; अहम्—मैं; तृट्-परीतः—प्यासा होकर; बुभुक्षितः—तथा भूखा; स्नात्वा—नहा कर; पीत्वा—तथा जल पीकर; हृदे—सरोवर में; नद्याः—नदी के; उपस्पृष्टः—सम्पर्क में रह कर; गत—छुटकारा प्राप्त किया; श्रमः—थकान से।

इस प्रकार विचरण करते हुए, मैं तन तथा मन से थक गया और प्यासा तथा भूखा भी था। अतएव मैंने एक सरोवर में स्नान किया और जल भी पिया। जल-स्पर्श से मेरी थकान जाती रही।

तात्पर्य : परिव्राजक को प्यास तथा भूख जैसी शरीर की आवश्यकताओं को, गृहस्थों के द्वार पर भिक्षाटन करके नहीं, अपितु प्रकृति के उपहारों से पूरा करना चाहिए। अतः परिव्राजक गृहस्थ के घर भिक्षाटन के लिए नहीं, अपितु उसे आध्यात्मिक आलोक प्रदान करने के लिए जाता है।

तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आश्रितः ।

आत्मनात्मानमात्मस्थं यथाश्रुतमचिन्तयम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस; निर्मनुजे—वीरान; अरण्ये—वन में; पिप्पल—पीपल के वृक्ष के; उपस्थे—नीचे बैठ कर; आश्रितः—सहारा लेकर; आत्मना—बुद्धि से; आत्मानम्—परमात्मा को; आत्म-स्थम्—अपने में ही लीन; यथा-श्रुतम्—जैसा मैंने मुक्त पुरुषों से सुन रखा था; अचिन्तयम्—विचार करने लगा।

उसके पश्चात् उस वीरान जंगल में एक पीपल वृक्ष की छाया में बैठकर मैं अपनी बुद्धि से अपने अन्तःकरण में स्थित परमात्मा का वैसे ही ध्यान करने लगा, जिस प्रकार कि मैंने मुक्तात्माओं से सीखा था।

तात्पर्य : मनुष्य को अपनी निजी सनक के अनुसार ध्यान नहीं करना चाहिए। उसे प्रामाणिक गुरु के पारदर्शी माध्यम से, शास्त्रों के प्रमाण से, तथा प्रत्येक हृदय में वास करने वाले परमात्मा के चिन्तन में प्रशिक्षित अपनी बुद्धि के सही प्रयोग से भलीभाँति जानना चाहिए। यह चेतना उन भक्तों में भलीभाँति विकसित होती है, जो अपने गुरु के आदेशों के अनुसार भगवान् की प्रेममय सेवा करते हैं। श्री नारद जी ने प्रामाणिक गुरुओं से सम्पर्क किया था, उनकी निष्ठापूर्वक सेवा की थी और उनसे समुचित आलोक प्राप्त किया था। इस प्रकार से वे ध्यान करने बैठ गये।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा ।

औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ध्यायतः—इस तरह ध्यान करते हुए; चरण-अम्भोजम्—अन्तर्यामी भगवान् के चरणकमलों का; भाव-निर्जित—भगवान् के दिव्य प्रेम में परिणत मन; चेतसा—सारी मानसिक गतिविधियाँ (सोचना, अनुभव करना तथा इच्छा करना); औत्कण्ठ्य—उत्सुकता; अश्रु-कल—आँसू निकल आये; अक्षस्य—आँखों के; हृदि—हृदय में; आसीत्—प्रकट हुए; मे—मेरे; शनैः—तुरन्त; हरिः—भगवान्।

ज्योंही मैं अपने मन को दिव्य प्रेम में लगाकर भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करने लगा कि मेरे नेत्रों से आँसू बहने लगे और भगवान् श्रीकृष्ण बिना विलम्ब किए मेरे हृदय-कमल में प्रकट हो गये।

तात्पर्य : यहाँ पर भाव शब्द महत्त्वपूर्ण है। यह भाव अवस्था तब प्राप्त होती है, जब भगवान् के लिए दिव्य प्रेम होता है। प्रारम्भिक अवस्था श्रद्धा अथवा भगवान् के प्रति चाह कहलाती है। इस चाह को बढ़ाने के लिए मनुष्य को शुद्ध भक्तों की संगति करना जरूरी है। तीसरी अवस्था में भक्ति के विधि-विधानों का अभ्यास करना होता है। इससे सारी आशंकाएँ दूर हो जाती हैं और भक्ति पथ में अवरोध उत्पन्न करने वाली सारी वैयक्तिक त्रुटियाँ हट जाती हैं।

जब सारी आशंकाएँ तथा वैयक्तिक त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं, तो दिव्य तत्त्व में आदर्श श्रद्धा होती है और उसके प्रति रुचि अधिक अनुपात में बढ़ती है। इस अवस्था से आकर्षण उत्पन्न होता है और इसके बाद भाव की अवस्था प्राप्त होती है, जो भगवान् के प्रति अटल प्रेम की पूर्व अवस्था है। ये सारी अवस्थाएँ दिव्य प्रेम के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार दिव्य प्रेम से अभिभूत होने पर वियोग (विरह) की प्रबल अनुभूति होती है, जिससे आठ प्रकार की विभिन्न ऊर्मियों की उत्पत्ति होती है। भक्त के नेत्रों से अश्रुपात होना इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया है और चूँकि श्री नारद मुनिने अपने पूर्वजन्म में घर छोड़ने के तुरन्त बाद ही यह अवस्था प्राप्त कर ली थी, अतएव उनके लिए भगवान् की उपस्थिति को देख पाना सरल था, जिसे उन्होंने बिना कोई भौतिक कल्मष वाली अपनी विकसित आध्यात्मिक इन्द्रियों के द्वारा सहज ही अनुभव कर लिया।

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।

आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

प्रेमा—प्रेम; अतिभर—अत्यधिक; निर्भिन्न—विशेष रूप से विभेदित; पुलक—प्रसन्नता की अनुभूति; अङ्ग—शरीर के विभिन्न अंग; अति-निर्वृतः—पूर्ण रूप से अभिभूत होकर; आनन्द—आह्लाद के; सम्प्लवे—समुद्र में; लीनः—मग्न; न—नहीं; अपश्यम्—देख सका; उभयम्—दोनों को; मुने—हे व्यासदेव।

हे व्यासदेव, उस समय प्रसन्नता की अनुभूति होने के कारण, मेरे शरीर का अंग-प्रत्यंग पुलकित हो उठा। आनन्द के सागर में निमग्न होने के कारण मैं अपने आपको और भगवान् को भी न देख सका।

तात्पर्य : सुख तथा उत्कट आनन्द की तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों की कोई सांसारिक तुलना नहीं हो सकती। अतएव ऐसी अनुभूतियों को व्यक्त कर पाना अत्यन्त कठिन होता है। ऐसे आनन्द की एक झलक हमें श्री नारद मुनि के शब्दों से मिल सकती है। शरीर अथवा इन्द्रियों के प्रत्येक अंग का अपना एक विशेष कार्य होता है। भगवान् का दर्शन करने पर सारी इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा करने के लिए जागृत हो उठती हैं, क्योंकि मुक्त अवस्था में इन्द्रियाँ भगवान् की

सेवा करने में सक्षम होती हैं। इस प्रकार से दिव्य आनन्द की अवस्था में ऐसा हो गया कि इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा के लिए पृथक् रूप से उत्कण्ठित हो गईं। ऐसा होने से नारद मुनि अपने आपको तथा भगवान् को एकसाथ देखने में खो गये।

रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम् ।

अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद्दुर्मना इव ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

रूपम्—रूप; भगवतः—भगवान् का; यत्—जैसा है; तत्—वह; मनः—मन की; कान्तम्—इच्छानुसार; शुच-
अपहम्—समस्त विषमता को दूर करते हुए; अपश्यन्—बिना देखे; सहसा—अचानक; उत्तस्थे—खड़ा हो गया;
वैक्लव्यात्—विकल होकर; दुर्मनाः—इष्ट को खोकर; इव—मानो।

भगवान् का दिव्य रूप, जैसा कि वह है, मन की इच्छा को पूरा करता है और समस्त मानसिक सन्तापों को तुरन्त दूर करने वाला है। अतः उस रूप के खो जाने पर मैं व्याकुल होकर उठ खड़ा हुआ, जैसा कि प्रायः अपने अभीष्ट के खो जाने पर होता है।

तात्पर्य : नारद मुनि ने अनुभव किया कि भगवान् रूप-विहीन नहीं हैं। लेकिन उनका रूप हमारे भौतिक अनुभव के सभी रूपों से सर्वथा भिन्न होता है। हम जीवन भर इस भौतिक जगत में विभिन्न रूप देखते रहते हैं, लेकिन इनमें से किसी एक से भी न तो मन की तुष्टि होती है, न उनमें से एक भी हमारे मन की अशान्ति को दूर कर सकता है। भगवान् के दिव्य रूप की ये ही विशेषताएँ हैं और जिसने उस रूप को एक बार भी देखा है, वह अन्य किसी वस्तु से तुष्ट नहीं हो पाता। भौतिक जगत का कोई भी रूप दृष्टा को तुष्ट नहीं कर सकता। 'भगवान् रूप-विहीन हैं या निराकार हैं' इस का यही अर्थ होता है कि उनका कोई भौतिक रूप नहीं होता और वे किसी भौतिक व्यक्तित्व के समान नहीं होते।

आध्यात्मिक जीवों के रूप में भगवान् के उस दिव्य रूप से सम्बन्धित होने के कारण हम सभी जन्म-जन्मान्तर भगवान् के उसी रूप को खोजते रहते हैं और भौतिक तुष्टि के अन्य किसी रूप से संतुष्ट नहीं हो पाते। नारद मुनि को इसकी झलक मिली थी, लेकिन उसे दुबारा न देख कर वे विकल हो उठे और उसे ढूँढ़ने के लिए सहसा उठ खड़े हुए। हम जन्म-जन्मान्तर जिसकी

खोज करते हैं, वह नारद मुनि को मिल गया था, अतएव उसका अदृश्य होना निश्चित ही उनके लिए आघात पहुँचाने वाला था।

दिदक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि ।

वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दिदक्षुः—देखने को इच्छुक; तत्—वह; अहम्—मैं; भूयः—फिर; प्रणिधाय—मन को एकाग्र करके; मनः—मन; हृदि—हृदय में; वीक्षमाणः—देखने के लिए प्रतीक्षारत; अपि—होते हुए; न—कभी नहीं; अपश्यम्—उन्हें देखा; अवितृप्तः—बिना संतुष्ट हुए; इव—सदृश; आतुरः—संतप्त।

मैंने भगवान् के उस दिव्य रूप को पुनः देखना चाहा, लेकिन अपने हृदय में एकाग्र होकर उस रूप का दर्शन करने के सारे प्रयासों के बावजूद, मैं उन्हें फिर से न देख सका। इस प्रकार असंतुष्ट होने पर मैं अत्यधिक संतप्त हो उठा।

तात्पर्य : भगवान् के रूप को देखने की कोई यान्त्रिक विधि नहीं होती है। यह पूर्ण रूप से भगवान् की अहैतुकी कृपा पर निर्भर करता है। हम भगवान् से यह माँग नहीं कर सकते कि वे हमारी दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो जाँय, ठीक वैसे ही जैसे कि सूर्य से हम यह माँग नहीं कर सकते कि वह हमारी इच्छानुसार उदय हुआ करे। सूर्य स्वेच्छा से उदय होता है, उसी तरह से भगवान् भी अपनी अहैतुकी कृपावश ही उपस्थित होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करे और भगवान् की भक्तिमय सेवा के लिए अपने नियत कर्म करता रहे। नारद मुनि ने सोचा कि वे भगवान् को पुनः उसी यान्त्रिक विधि से देख सकेंगे, जिससे वे प्रथम प्रयास में सफल हुए थे, लेकिन अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी उनका दूसरा प्रयास सफल नहीं हो पाया। भगवान् समस्त प्रकार के बन्धनों से मुक्त हैं। वे केवल अनन्य भक्ति के बन्धन से ही बाँधे जा सकते हैं। वे न तो हमारी इन्द्रियों द्वारा दृश्य हैं, न अनुभवगम्य हैं। वे जब भक्तिमय सेवा के निष्ठावान प्रयास से प्रसन्न होते हैं और जब चाहते हैं, तब स्वेच्छा से ही दिखते हैं।

एवं यतन्तं विजने मामाहागोचरो गिराम् ।

गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; यतन्तम्—यत्न करते हुए; विजने—वह एकान्त स्थान में; माम्—मुझसे; आह—कहा; अगोचरः—भौतिक शब्द (ध्वनि) की सीमा से बाहर; गिराम्—वाणी; गम्भीर—गम्भीर; श्लक्ष्णया—सुनने में सुखद; वाचा—शब्द; शुचः—शोक; प्रशमयन्—दूर करते हुए; इव—सदृश।

वह एकान्त स्थान में मेरे प्रयासों को देखकर समस्त लौकिक वर्णन से परे भगवान् ने मेरे शोक को दूर करने के लिए अत्यन्त गम्भीर तथा सुखद वाणी में मुझसे कहा।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है कि भगवान् लौकिक वाणी तथा बुद्धि की पहुँच के परे हैं। तो भी उनकी अहैतुकी कृपा होने पर मनुष्य को उनके सुनने तथा उनका कीर्तन करने के लिए उपयुक्त इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। यही भगवान् की अकल्पनीय शक्ति है। जिस पर यह कृपा प्रदान की जाती है वह उनको सुन सकता है। नारद मुनि से भगवान् अतीव प्रसन्न थे, अतएव उन्हें वह शक्ति प्राप्त हो सकी कि वे भगवान् की वाणी सुन सके। लेकिन, वैधि भक्ति की दीक्षा की प्रारम्भिक अवस्था में, उनका स्पर्श पाकर उनकी अनुभूति करना अन्य लोगों के लिए सम्भव नहीं है। यह तो नारद के लिए विशेष वरदान था। जब उन्होंने भगवान् की सुखद वाणी सुनी, तो वियोग की अनुभूति कुछ-कुछ दूर हुई। ईश्वर से प्रेम करने वाला भक्त निरन्तर उनके वियोग की व्यथा का अनुभव करता रहता है, अतएव वह नित्य ही दिव्य आनन्द में डूबा रहता है।

हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान्मा मां द्रष्टुमिहार्हति ।

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुर्योगिनाम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

हन्त—हे नारद; अस्मिन्—इस; जन्मनि—जन्म में; भवान्—तुम; मा—नहीं; माम्—मुझको; द्रष्टुम्—देखने के लिए; इह—यहाँ; अर्हति—योग्य हो; अविपक्व—अप्रौढ़; कषायाणाम्—भौतिक, कल्मष; दुर्दर्शः—देख पाना कठिन; अहम्—मैं; कुर्योगिनाम्—सेवा में अपूर्ण।

(भगवान् ने कहा) हे नारद, मुझे खेद है कि तुम इस जीवन काल में अब मुझे नहीं देख सकोगे। जिनकी सेवा अपूर्ण है और जो समस्त भौतिक कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हैं, वे मुश्किल से ही मुझे देख पाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् को अत्यन्त शुद्ध, सर्वोपरि तथा परम सत्य के रूप में वर्णित किया गया है। उनके व्यक्तित्व में भौतिकता लेशमात्र भी नहीं रहती, अतएव जिस व्यक्ति में रंचमात्र भी भौतिक अनुराग रहता है, वह उन तक नहीं पहुँच सकता। भक्तिमय सेवा का शुभारम्भ तब होता है, जब मनुष्य कम-से-कम दो भौतिक गुणों से—रजोगुण तथा तमोगुण से—मुक्त हो जाता है। *काम* तथा *लोभ* से मुक्त होना ही इसका लक्षण है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को इन्द्रियतुष्टि की इच्छाओं तथा इन्द्रियतृप्ति की तृष्णा से मुक्त हो जाना चाहिए। प्रकृति का संतुलित गुण सत्त्वगुण है और समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त होने के लिए उसे सत्त्वगुण से भी ऊपर उठना होता है। किसी एकान्त वन में जाकर भगवान् के दर्शन (साक्षात्कार) की खोज करना सत्त्वगुण में आता है। मनुष्य आध्यात्मिक सिद्धि के लिए वन में जा सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे वहाँ भगवान् का साक्षात् दर्शन हो ही जाय। मनुष्य को समस्त भौतिक आसक्ति से रहित होना चाहिए और अध्यात्म के धरातल पर स्थित होना चाहिए, तभी उसे भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सकता है। अतएव सर्वोत्तम विधि यह है कि मनुष्य वहाँ जाकर रहे, जहाँ भगवान् के दिव्य रूप की पूजा की जाती है। भगवान् का मन्दिर एक दिव्य स्थान होता है, जब कि वन भौतिक दृष्टि से उत्तम निवास-स्थान है। नवदीक्षित भक्त को भी भगवान् की खोज करने के लिए जंगल जाने के लिये नहीं, अपितु भगवान् के विग्रह की पूजा (अर्चना) करने के लिए कहा जाता है। भगवान् की *अर्चना* से ही भक्ति का शुभारम्भ होता है और यह वन में जाने की अपेक्षा श्रेष्ठ है। नारद मुनि को अपने वर्तमान जीवन में वन जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे समस्त भौतिक लालसाओं से मुक्त हैं और वे अपनी उपस्थिति से ही प्रत्येक स्थान को वैकुण्ठ में बदल सकते हैं। वे मनुष्यों, देवों, किन्नरों, गंधर्वों, ऋषियों, मुनियों तथा अन्यो को भगवान् का भक्त बनाने के लिए एक लोक से दूसरे लोक में विचरण करते रहते हैं। उन्होंने अपने कार्य-कलापों से ही प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज जैसे अनेक भक्तों को भगवान् की दिव्य सेवा में लगाया है। अतएव भगवान् का शुद्ध भक्त नारद तथा प्रह्लाद जैसे महान भक्तों के पदचिह्नों पर

चलता है और कीर्तन की प्रक्रिया के द्वारा भगवान् की महिमा का गुणगान करने में अपना पूरा समय लगाता है। ऐसी उपदेश विधि समस्त भौतिक गुणों से परे है।

सकृद् यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ ।

मत्कामः शनकैः साधु सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सकृत्—केवल एक बार; यत्—जो; दर्शितम्—दिखाया हुआ; रूपम्—रूप; एतत्—यह है; कामाय—लालसा के लिए; ते—तुम्हारा; अनघ—हे निष्पाप; मत्—मेरी; कामः—इच्छा; शनकैः—बढ़ाने से; साधुः—भक्त; सर्वान्—समस्त; मुञ्चति—त्यागता है; हत्-शयान्—भौतिक इच्छाओंको।

हे निष्पाप पुरुष, तुमने मुझे केवल एक बार देखा है और यह मेरे प्रति तुम्हारी इच्छा को उत्कट बनाने के लिए है, क्योंकि तुम जितना ही अधिक मेरे लिए लालायित होगे, उतना ही तुम समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो सकोगे।

तात्पर्य : जीव कभी भी इच्छाओं से रहित नहीं हो सकता, क्योंकि वह मृत (जड़) पत्थर नहीं है। उसे काम करना, सोचना, अनुभव करना तथा चाहना, कुछ तो करना होता है। किन्तु जब वह भौतिक दृष्टि से सोचता, अनुभव करता तथा चाहता है, तो वह बंधन में जकड़ता जाता है, किन्तु इसके विपरीत, जब वह ईश्वर की सेवा के लिए सोचता, अनुभव करता तथा चाहता है, तो वह धीरे-धीरे समस्त बन्धन से मुक्त होता जाता है। मनुष्य जितना ही अधिक भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगता है, वह उतना ही अधिक उसके लिए लालायित रहता है। दैवी सेवा की यह दिव्य प्रकृति है। भौतिक सेवा की तृप्ति हो जाती है, जबकि भगवान् की आध्यात्मिक सेवा की न तो तृप्ति होती है, न उसका कोई अन्त है। मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के प्रति अपनी लालसा बढ़ाता जा सकता है, लेकिन उसे उसकी तृप्ति या उसका अन्त नहीं दिखता। भगवान् की उत्कट सेवा से मनुष्य को भगवान् की दिव्य उपस्थिति की अनुभूति हो सकती है। अतएव भगवान् का दर्शन करने का अर्थ है उनकी सेवा में लगे रहना, क्योंकि उनकी सेवा तथा स्वयं भगवान् अभिन्न हैं। निष्ठावान भक्त को भगवान् की नैष्ठिक सेवा करते रहना चाहिए। भगवान्

उचित दिशा-निर्देश करेंगे कि कहाँ तथा कैसे भगवत्-सेवा की जाय। नारद में कोई भौतिक इच्छा न थी, लेकिन भगवान् के प्रति उत्कट इच्छा को बढ़ाने के लिए ही भगवान् ने ऐसी सलाह दी।

सत्सेवयादीर्घयापि जाता मयि दृढा मतिः ।

हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सत्-सेवया—परम सत्य की सेवा द्वारा; अदीर्घया—कुछ दिनों तक; अपि—भी; जाता—प्राप्त हुआ; मयि—मुझको; दृढा—दृढ़; मतिः—बुद्धि; हित्वा—त्याग कर; अवद्यम्—शोचनीय; इमम्—इस; लोकम्—भौतिक जगत को; गन्ता—जाते हुए; मत्-जनताम्—मेरे पार्षद; असि—होते हैं।

कुछ काल तक ही सही, परम सत्य की सेवा करने से भक्त मुझमें दृढ़ एवं अटल बुद्धि प्राप्त करता है। फलस्वरूप, वह इस शोचनीय भौतिक जगत को त्यागने के बाद दिव्य जगत में मेरा पार्षद बनता है।

तात्पर्य : परम सत्य की सेवा करने का अर्थ है, प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु के मार्गदर्शन में परम भगवान् की सेवा करना, जो भगवान् तथा नवदीक्षित भक्त के बीच एक पारदर्शी मध्यस्थ का काम करते हैं। नवदीक्षित भक्त में अपनी वर्तमान अपूर्ण भौतिक इन्द्रियों के बल पर भगवान् के परम व्यक्तित्व तक पहुँचने की शक्ति नहीं होती, अतएव आध्यात्मिक गुरु के निर्देशन में उसे भगवान् की दिव्य सेवा का प्रशिक्षण दिया जाता है। इस तरह के प्रशिक्षण से, भले ही वह कुछ दिनों का ही क्यों न हो, नवदीक्षित भक्त को ऐसी दिव्य सेवा की बुद्धि प्राप्त हो जाती है जिससे वह अन्ततः भौतिक लोक में निरन्तर वास करने से मुक्त हो जाता है और आध्यात्मिक विश्व तक उन्नत होकर भगवान् का मुक्त पार्षद बनता है।

मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् ।

प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

मतिः—बुद्धि; मयि—मुझमें अनुरक्त; निबद्धा—लगा हुआ; इयम्—यह; न—कभी नहीं; विपद्येत—विलग; कर्हिचित्—किसी समय; प्रजा—जीव; सर्ग—सृष्टि के समय; निरोधे—संहार के समय; अपि—भी; स्मृतिः—स्मृति, स्मरण-शक्ति; च—तथा; मत्—मेरी; अनुग्रहात्—कृपा से।

मेरी भक्ति में लगी हुई बुद्धि कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। यहाँ तक कि सृष्टि काल के साथ ही साथ संहार के समय भी मेरे अनुग्रह से तुम्हारी स्मृति बनी रहेगी।

तात्पर्य : भगवान् के प्रति की गई भक्ति कभी व्यर्थ नहीं जाती। चूँकि भगवान् शाश्वत हैं, अतएव उनकी सेवा में लगाई गई बुद्धि या उनके प्रति किया गया कोई भी कार्य स्थायी होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् के प्रति की गई ऐसी दिव्य सेवा जन्म-जन्मान्तर तक संचित होती जाती है और जब भक्त पूर्ण रूप से परिपक्व हो जाता है, तो उसकी सारी सेवा को समाकलित कर देने पर वह भगवान् के सान्निध्य में जाने के योग्य हो जाता है। भगवान् की ऐसी संचित सेवा कभी विनष्ट नहीं होती, अपितु पूर्णतः परिपक्व होने तक बढ़ती ही जाती है।

एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्
भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम् ।
अहं च तस्मै महतां महीयसे
शीर्ष्णावनामं विदधेऽनुकम्पितः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एतावत्—इस प्रकार; उक्त्वा—कह कर; उपरराम—रुक गया; तत्—वह; महत्—महान्; भूतम्—आश्चर्यजनक; नभः—लिङ्गम्—शब्द द्वारा व्यक्त; अलिङ्गम्—नेत्रों से न दिखने वाला, अदृश्य; ईश्वरम्—परम पुरुष को; अहम्—मैं; च—भी; तस्मै—उनको; महताम्—महान्; महीयसे—महिमा मंडित; शीर्ष्णा—शिर से; अवनामम्—नमस्कार; विदधे—किया; अनुकम्पितः—उनके द्वारा कृपा दिखाये जाने पर।

तब शब्द से व्यक्त तथा नेत्रों से अदृश्य उन नितान्त आश्चर्यमय परम पुरुष ने बोलना बन्द कर दिया। मैंने कृतज्ञता का अनुभव करते हुए शीश झुकाकर उन्हें प्रणाम किया।

तात्पर्य : यदि भगवान् केवल सुनाई पड़ें, दिखें नहीं, तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। भगवान् ने अपने श्वास से चारों वेद उत्पन्न किये। उन्हें वेदों के दिव्य उच्चारण से ही देखा और अनुभव किया जाता है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* भगवान् की शब्द-अभिव्यक्ति है और इनमें तथा इनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। निष्कर्ष यह है कि भगवान् को निरन्तर दिव्य ध्वनि के उच्चारण द्वारा देखा और सुना जा सकता है।

नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन्
 गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ।
 गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः
 कालं प्रतीक्षन् विमदो विमत्सरः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

नामानि—पवित्र नाम, यश आदि.; अनन्तस्य—असीम के; हत-त्रपः—भौतिक जगत की सारी औपचारिकताओं से मुक्त होकर; पठन्—जप से, पाठ से.; गुह्यानि—रहस्यमय; भद्राणि—कल्याणकर; कृतानि—कार्य; च—तथा; स्मरन्—निरन्तर स्मरण करते हुए; गाम्—पृथ्वी पर; पर्यटन्—सर्वत्र विचरण करते हुए; तुष्ट-मनाः—पूर्ण रूप से सन्तुष्ट; गत-स्पृहः—समस्त भौतिक कामनाओं से पूर्ण रूप से मुक्त; कालम्—काल, समय की; प्रतीक्षन्—प्रतीक्षा करते हुए; विमदः—गर्व किये बिना; विमत्सरः—ईर्ष्यारहित।

इस प्रकार भौतिक जगत की समस्त औपचारिकताओं की उपेक्षा करते हुए, मैं बारम्बार भगवान् के पवित्र नाम तथा यश का कीर्तन करने लगा। भगवान् की दिव्य लीलाओं का ऐसा कीर्तन एवं स्मरण कल्याणकारी होता है। इस तरह मैं पूर्ण रूप से सन्तुष्ट, विनम्र तथा ईर्ष्या-द्वेषरहित होकर सारी पृथ्वी पर विचरण करने लगा।

तात्पर्य : नारद मुनि ने अपने व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा भगवान् के निष्ठावान भक्त के जीवन का संक्षेप में वर्णन किया है। ऐसा भक्त भगवान् से या भगवान् के प्रामाणिक प्रतिनिधि से दीक्षा ग्रहण करने पर भगवान् की महिमा का गम्भीरतापूर्वक कीर्तन करता है और सारे संसार में विचरण करता है, जिससे अन्य लोग भी भगवान् की महिमा का श्रवण कर सकें। ऐसे भक्तों को भौतिक लाभ की कोई इच्छा नहीं रहती। उनकी एकमात्र इच्छा इच्छा होती है कि वे भगवान् के धाम को वापस जाँए। यथासमय भौतिक शरीर को त्यागने पर उन्हें यह अवसर प्राप्त होता है। चूँकि भगवद्धाम को वापस जाना उनके जीवन का चरम लक्ष्य रहता है, अतः वे न तो किसी से ईर्ष्या करते हैं, न ही भगवद्धाम जाने के लिए सुयोग्य होने का उन्हें अभिमान होता है। उनका एकमात्र व्यवसाय भगवान् के पवित्र नाम, यश तथा लीलाओं का कीर्तन तथा स्मरण करना और अपनी वैयक्तिक क्षमता के अनुसार भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होकर दूसरों के कल्याण हेतु संदेश का प्रचार करना होता है।

एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नासक्तस्यामलात्मनः ।

कालः प्रादुरभूत्काले तडित्सौदामनी यथा ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कृष्ण-मतेः—जो कृष्ण के चिन्तन में लीन हो; ब्रह्मन्—हे व्यासदेव; न—नहीं; आसक्तस्य—आसक्त होने वाले का; अमल-आत्मनः—समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त का; कालः—मृत्यु; प्रादुरभूत्—दृष्टिगोचर हुआ; काले—समय आने पर; तडित्—बिजली; सौदामनी—प्रकाश करती हुई; यथा—जिस प्रकार है।

और हे ब्राह्मण व्यासदेव, इस तरह मैंने कृष्ण के चिन्तन में पूर्णतया निमग्न रहते हुए तथा किसी प्रकार की आसक्ति न रहने से समस्त भौतिक कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाने पर यथा समय मृत्यु पाई, जिस प्रकार बिजली गिरना तथा प्रकाश कौंधना एकसाथ होते हैं।

तात्पर्य : कृष्ण के विचारों में पूर्ण रूप से निमग्न होने का अर्थ है, भौतिक कल्मष या लालसाओं से छुटकारा। जिस प्रकार किसी धनी व्यक्ति को छोटी-छोटी चीजों की परवाह नहीं रहती, उसी प्रकार से भगवान् कृष्ण का भक्त भी शाश्वत जीवन, ज्ञान तथा आनन्द से युक्त भगवान् के धाम जाने के प्रति आश्वस्त तथा प्रफुल्लित रहने के कारण छोटी-छोटी बातों की लालसा नहीं करता, क्योंकि ये सब वास्तविकता की पुत्तलिकाएँ या छाया मात्र होती हैं और उनका कोई स्थायी महत्त्व नहीं होता। आध्यात्मिक दृष्टि से सुसम्पन्न व्यक्तियों का यही लक्षण होता है और समय के साथ जब शुद्ध भक्त पूर्ण रूप से सन्नद्ध रहता है, तो एकाएक शरीर का परिवर्तन होता है जिसे सामान्य रूप से मृत्यु कहा जाता है। शुद्ध भक्त के लिए ऐसा परिवर्तन बिजली के समान होता है और उसकी चमक उसके साथ ही उसके पीछे दिखती है। कहने का अर्थ यह है कि परम की इच्छा से भक्त का भौतिक शरीर उसी समय बदलता है और उसके आध्यात्मिक शरीर का विकास हो जाता है। यहाँ तक कि मृत्यु के पूर्व भी शुद्ध भक्त को कोई भौतिक आसक्ति नहीं होती, क्योंकि उसका शरीर उसी प्रकार आध्यात्मिक बन जाता है, जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क में रहने से लोहा लाल (अग्निवत्) हो जाता है।

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् ।

आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

प्रयुज्यमाने—पुरस्कृत होकर; मयि—मुझ पर; ताम्—उस; शुद्धाम्—दिव्य; भागवतीम्—भगवान् की संगति करने योग्य; तनुम्—शरीर; आरब्ध—प्राप्त किया; कर्म—सकाम कर्म; निर्वाणः—समाप्त होना; न्यपतत्—त्याग दिया; पाञ्च-भौतिकः—पाँच तत्त्वों से बना शरीर।

भगवान् के पार्षद के लिए उपयुक्त दिव्य शरीर पाकर मैंने पाँच भौतिक तत्त्वों से बने शरीर को त्याग दिया और इस तरह कर्म के सारे अर्जित फल समाप्त हो गये।

तात्पर्य : भगवान् ने यह बता दिया था कि नारद को भगवान की संगति करने के लिए उपयुक्त दिव्य शरीर प्रदान किया जायेगा, अतः नारद ने ज्योंही भौतिक शरीर त्यागा, उन्हें आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हो गया। यह दिव्य शरीर भौतिक आसक्ति से मुक्त और तीन प्रधान दिव्य गुणों से युक्त होता है। ये हैं शाश्वतता, भौतिक गुणों से मुक्ति तथा सकाम कर्मों के फल से मुक्ति। भौतिक शरीर इन तीनों गुणों के अभाव से निरन्तर पीड़ित रहता है। किन्तु, ज्योंही कोई भक्त भगवान् की सेवा में तत्पर होता है, त्योंही उसका शरीर दिव्य गुणों से अभिभूत हो जाता है। यह लोहे पर पारसमणि की तरह चुम्बकीय प्रभाव डालता है। दिव्य भक्तिमय सेवा का प्रभाव भी उसी तरह होता है। फलतः शरीर-परिवर्तन का अर्थ है, शुद्ध भक्त पर भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों की प्रतिक्रिया की समाप्ति। शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। ध्रुव महाराज, प्रह्लाद महाराज तथा अन्य अनेक भक्त इसी शरीर से भगवान् का साक्षात्कार कर सके। इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त के शरीर का गुण भौतिक से दिव्य में बदल जाता है। प्रामाणिक शास्त्रों के आधार पर, प्रधिकृत गोस्वामियों का यही अभिमत है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि *इन्द्रगोप* कीट से लेकर स्वर्ग के महान् राजा इन्द्र तक, सारे जीव *कर्म* के नियम के अधीन हैं और उन्हें अपने-अपने कर्मों के फल को भोगना पड़ता है। केवल भक्त ही सर्वोपरि सत्ता, पुरुषोत्तम भगवान् की अहैतुकी कृपा से इन कर्म बन्धनों से मुक्त हैं।

कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः ।

शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कल्प-अन्ते—ब्रह्मा के दिन के अन्त में; इदम्—यह; आदाय—लेकर, समेट कर; शयाने—शयन करते हुए; अम्भसि—कारण-जल में; उदन्वतः—विनाश, संहार; शिशयिषोः—भगवान् (नारायण) का लेटना; अनुप्राणम्—श्वास लेना; विविशे—प्रवेश किया; अन्तः—भीतर; अहम्—मैंने; विभोः—ब्रह्माजी के ।

कल्प के अन्त में जब भगवान् नारायण प्रलय के जल में लेट गये, तब ब्रह्माजी समस्त सृष्टिकारी तत्त्वों सहित उनके भीतर प्रवेश करने लगे और उनके श्वास से मैं भी भीतर चला गया ।

तात्पर्य : नारद ब्रह्मा के पुत्र के रूप में उसी तरह विख्यात हैं, जिस प्रकार भगवान् कृष्ण वसुदेव के पुत्र-रूप में। भगवान् तथा नारद जैसे उनके मुक्त भक्तगण इस संसार में एक ही विधि से प्रकट होते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् का जन्म तथा उनके कार्य-कलाप सभी दिव्य होते हैं। अतः प्रामाणिक अभिमत के अनुसार, ब्रह्मा के पुत्र के रूप में नारद का जन्म भी दिव्य लीला है। उनका प्राकट्य तथा तिरोधान व्यावहारिक रूप से भगवान् के समस्तरीय हैं। अतः भगवान् तथा उनके भक्त दिव्य व्यक्ति के रूप में एकसाथ एकमेव तथा भिन्न हैं। वे एक ही कोटि की दिव्यता से सम्बन्धित हैं।

सहस्रयुगपर्यन्ते उत्थायेदं सिसृक्षतः ।

मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सहस्र—एक हजार; युग—४३,००,००० वर्ष; पर्यन्ते—अवधि के अन्त में; उत्थाय—बीतने पर; इदम्—इस; सिसृक्षतः—पुनः सृजन करने की इच्छा प्रकट की; मरीचि-मिश्राः—मरीचि जैसे ऋषि; ऋषयः—सारे ऋषिगण; प्राणेभ्यः—उनकी इन्द्रियों से; अहम्—मैं; च—भी; जज्ञिरे—प्रकट हुआ ।

४,३२,००,००,००० सौर वर्षों के बाद, जब भगवान् की इच्छा से ब्रह्मा पुनः सृष्टि करने के लिए जागे, तो मरीचि, अंगिरा, अत्रि इत्यादि सारे ऋषि भगवान् के दिव्य शरीर से उत्पन्न हुए और उन्हीं के साथ-साथ मैं भी प्रकट हुआ ।

तात्पर्य : ब्रह्मा के जीवन के एक दिन की अवधि ४,३२,००,००,००० सौर वर्षों की होती है। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* में किया गया है। अतः ब्रह्माजी इस अवधि में अपने जनक गर्भोदकशायी विष्णु के शरीर के भीतर योगनिद्रा में शयन करते हैं। इस निद्रा के बाद, जब

भगवान् की इच्छा से ब्रह्मा के माध्यम द्वारा पुनः सृष्टि की जाती है, तो सारे ऋषि पुनः दिव्य शरीर के विभिन्न अंगों से प्रकट होते हैं और नारद भी इसी तरह प्रकट होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि नारद उसी दिव्य शरीर में प्रकट होते हैं, जिस प्रकार मनुष्य निद्रा के बाद उसी शरीर में जगता है। श्री नारद सर्वशक्तिमान की दिव्य तथा भौतिक सृष्टियों के सभी भागों में जाने के लिए मुक्त हैं। वे अपने दिव्य शरीर में ही प्रकट तथा अंतर्धान होते रहते हैं। यह शरीर बद्धजीवों के शरीर से भिन्न है, क्योंकि इस शरीर तथा आत्मा में कोई भेद नहीं होता।

अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः ।

अनुग्रहान्महाविष्णोरविघातगतिः क्वचित् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—दिव्य जगत में; बहिः—भौतिक जगत में; च—तथा; लोकान्—लोक; त्रीन्—तीन (विभाग); पर्येमि—विचरण करता हूँ; अस्कन्दित—अविच्छिन्न; व्रतः—व्रत, प्रण; अनुग्रहात्—अहैतुकी कृपा से; महा-विष्णोः—महाविष्णु (कारणोदकशायी विष्णु) की; अविघात—बिना रोक टोक के; गतिः—प्रवेश; क्वचित्—किसी समय।

तब से सर्वशक्तिमान विष्णु की कृपा से मैं दिव्य जगत में तथा भौतिक जगत के तीनों प्रखण्डों में बिना रोक-टोक के सर्वत्र विचरण करता हूँ। ऐसा इसलिए है क्योंकि मैं भगवान् की अविच्छिन्न भक्तिमय सेवा में स्थिर हूँ।

तात्पर्य : जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है, भौतिक प्रक्षेत्र (ब्रह्माण्ड) के तीन प्रखण्ड हैं। ये हैं ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक तथा अधोलोक। ऊर्ध्वलोकों के परे अर्थात् ब्रह्मलोक के ऊपर ब्रह्माण्ड के भौतिक आवरण होते हैं और इसके भी ऊपर चिन्मय आकाश होता है, जिसका विस्तार असीम है और जिसमें अपने शाश्वत मुक्त पार्षदों सहित भगवान् द्वारा निवसित असंख्य स्वतःप्रकाशित वैकुण्ठ लोक होते हैं। श्री नारद मुनि इन सभी लोकों में, भौतिक एवं दिव्य प्रक्षेत्रों में, बिना रोक-टोक प्रवेश कर सकते हैं जिस तरह भगवान् अपनी सृष्टि के किसी भी भाग में स्वतः जाने के लिए स्वतन्त्र हैं। भौतिक जगत में सारे जीव भौतिक प्रकृति के तीन गुणों—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुणों—से प्रभावित रहते हैं। लेकिन श्री नारद मुनि इन सारे भौतिक गुणों से परे हैं, अतएव वे कहीं भी अबाध रूप से विचरण कर सकते हैं। वे मुक्त अन्तरिक्ष यात्री

हैं। भगवान् विष्णु की अहैतुकी कृपा अद्वितीय होती है और ऐसी कृपा केवल भगवान् के अनुग्रहवश भक्तों द्वारा अनुभव की जाती है। अतएव भक्त कभी भी च्युत नहीं होते, लेकिन भौतिकतावादी अर्थात् सकाम कर्मी तथा ज्ञानी अपने-अपने गुणों से बाध्य होकर च्युत होते हैं। जैसाकि कहा जा चुका है, ऋषिगण नारद की तरह आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) में प्रवेश नहीं कर सकते। इस तथ्य का उद्घाटन *नरसिंह पुराण* में किया गया है। मरीचि जैसे ऋषि सकाम कर्म के पंडित हैं, तथा सनक एवं सनातन जैसे ऋषि दार्शनिक चिन्तन (ज्ञान) के प्रमाण हैं। किन्तु श्री नारद मुनि ही भगवान् की दिव्य भक्ति के मूल अधिकारी हैं। भगवान् की भक्ति के सारे बड़े-बड़े अधिकारी *नारद-भक्ति-सूत्र* के अनुसार नारद मुनि के चरण चिह्नों का अनुसरण करते हैं, अतएव भगवान् के सारे भक्त भगवान् के राज्य, वैकुण्ठ में बिना किसी हिचक के प्रवेश करने के पात्र होते हैं।

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् ।

मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

देव—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (श्रीकृष्ण) द्वारा; दत्ताम्—प्रदत्त; इमाम्—इस; वीणाम्—वीणा को; स्वर—स्वर, बोल; ब्रह्म—दिव्य; विभूषिताम्—अलंकृत; मूर्च्छयित्वा—स्पन्दन करती; हरि-कथाम्—दिव्य सन्देश को; गायमानः—निरन्तर गाते हुए; चरामि—विचरण करता हूँ; अहम्—मैं।

और इस तरह मैं भगवान् की महिमा के दिव्य सन्देश का निरन्तर गायन करते हुए और इस वीणा को झंकृत करते हुए विचरण करता रहता हूँ, जो दिव्य ध्वनि से पूरित है और जिसे भगवान् कृष्ण ने मुझे दिया था।

तात्पर्य : *लिंग पुराण* में नारद को भगवान् कृष्ण द्वारा प्रदत्त तारयुक्त वाद्य यंत्र *वीणा* का वर्णन दिया गया है और इसकी पुष्टि श्रील जीव गोस्वामी द्वारा की गई है। यह दिव्य वाद्य भगवान् श्रीकृष्ण तथा नारद जी से अभिन्न है, क्योंकि ये सभी एक ही दिव्य कोटि के हैं। इस वाद्य द्वारा झंकृत ध्वनि कभी भौतिक नहीं हो सकती, अतएव नारद के इस वाद्य द्वारा प्रसारित महिमा तथा लीलाएँ भी दिव्य हैं, उनमें भौतिकता का जरा भी उन्माद नहीं है। सप्त स्वर ष (षडज), ऋ

(ऋषभ), गा (गान्धार), म (मध्यम), प (पञ्चम), ध (धैवत) तथा नि (निषाद) भी दिव्य हैं और विशेष रूप से दिव्य गीतों के लिए हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में श्री नारददेव भगवान् द्वारा प्रदत्त इस वीणा के ऋण से सदैव उऋण होते हैं, क्योंकि वे निरन्तर उनके दिव्य यश का गायन करते रहते हैं और इस प्रकार अपने उच्च पद पर अच्युत हैं। भौतिक जगत के स्वरूप सिद्ध व्यक्ति को भी श्रील नारद मुनि के पद चिह्नों का अनुसरण करते हुए सप्तस्वरो अर्थात् ष, ऋ, गा, म, आदि का व्यवहार भगवान् की सेवा में उनकी महिमा के निरन्तर गायन द्वारा करना चाहिए, जैसी कि भगवद्गीता में पुष्टि हुई है।

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।

आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

प्रगायतः—इस प्रकार गाते हुए; स्व-वीर्याणि—अपनी लीलाएँ; तीर्थ-पादः—भगवान्, जिनके चरणकमल समस्त पुण्यों या पवित्रता के स्रोत हैं; प्रिय-श्रवाः—सुनने में सुखद; आहूतः—बुलाया गया; इव—मानो; मे—मुझको; शीघ्रम्—जल्दी ही; दर्शनम्—दर्शन; याति—प्रकट होता है; चेतसि—हृदय स्थल में।

ज्योंही मैं भगवान् श्रीकृष्ण की सुमधुर महिमा की पवित्र लीलाओं का कीर्तन करना प्रारम्भ करता हूँ, त्योंही वे मेरे हृदयस्थल में प्रकट हो जाते हैं मानो उनको बुलाया गया हो।

तात्पर्य : परम पूर्ण भगवान् अपने दिव्य नाम, रूप, लीलाओं तथा उनकी शब्द ध्वनियों से भिन्न नहीं हैं। ज्योंही शुद्ध भक्त उनके नाम, रूप तथा लीलाओं का श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करते हुए शुद्ध भक्ति में लग जाता है, त्योंही भगवान् आध्यात्मिक दृष्टपटल (टेलीविजन) के द्वारा शुद्ध भक्त के हृदय रूपी दर्पण पर अपना प्रतिबिम्ब उसकी दिव्य आँखों के सामने दिखलाते हैं। अतएव शुद्ध भक्त जो भगवान् से दिव्य प्रेमाभक्ति के कारण जुड़ा रहता है, प्रतिक्षण भगवान् की उपस्थिति का अनुभव कर सकता है। यह सहज मनोविज्ञान है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मुख से अपने यश का वर्णन सुनकर आनन्दित होना पसन्द करता है। यह सहज स्वभाव है और भगवान् भी अन्यो की भाँति एक व्यक्तित्व होने के कारण इस मनोविज्ञान से अलग नहीं हैं, क्योंकि हर व्यक्तिगत आत्मा में पाये जाने वाले मनोवैज्ञानिक लक्षण परम भगवान् के उसी

मनोविज्ञान के प्रतिबिम्ब ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि भगवान् सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं और अपने समस्त कार्यों में अलौकिक हैं। अतः यदि शुद्ध भक्त द्वारा अपने यश के गायन से भगवान् आकृष्ट होते हैं, तो इसमें कोई विस्मय नहीं होना चाहिए। चूँकि वे परम पूर्ण हैं, अतः वे अपने महिमा-गायन से प्रकट हो सकते हैं और ये दोनों बातें एक हैं। श्रील नारद भगवान् की महिमा का कीर्तन किसी निजी लाभ के लिए नहीं अपितु इसलिए करते हैं क्योंकि यह महिमा-गायन भगवान् से अभिन्न होता है। नारद मुनि अपने दिव्य कीर्तन से भगवान् के समक्ष पहुँच पाते हैं।

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शच्छया मुहुः ।

भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; हि—निश्चय ही; आतुर-चित्तानाम्—उन लोगों का जिनके चित्त सदैव चिन्ताओं से भरे रहते हैं; मात्रा—विषय वस्तुएँ; स्पर्श—इन्द्रियाँ; इच्छया—इच्छाओं के द्वारा; मुहुः—सदैव; भव-सिन्धु—अज्ञान रूपी सागर; प्लवः—नाव; दृष्टः—अनुभव की गई; हरि-चर्य—भगवान् हरि के कार्यकलापों का; अनुवर्णनम्—निरन्तर गायन।

यह मेरा निजी अनुभव है कि जो लोग विषय-वस्तुओं से सम्पर्क की इच्छा रखने के कारण सदैव चिन्ताग्रस्त रहते हैं, वे भगवान् की दिव्य लीलाओं के निरन्तर कीर्तन रूपी सर्वाधिक उपयुक्त नौका पर चढ़कर अज्ञान रूपी सागर को पार कर सकते हैं।

तात्पर्य : जीव का लक्षण यह है कि वह थोड़े समय के लिए भी मौन नहीं रह सकता। वह कुछ न कुछ करता रहता है, कुछ न कुछ सोचता या बोलता रहता है। सामान्य रूप से भौतिकतावादी लोग ऐसे विषयों के बारे में सोचते तथा बातें करते हैं, जो उनकी इन्द्रियों को तुष्ट करने वाले होते हैं। चूँकि ये सारी बातें बहिरंगा शक्ति के प्रभाववश की जाती हैं, अतएव इन्द्रियों के कार्यों से उन्हें कोई सन्तुष्टि नहीं मिल पाती। उल्टे वे चिन्ताओं से पूर्ण होते जाते हैं। यह माया कहलाती है जिसका अर्थ है, “वह जो नहीं है”। ऐसी वस्तु जो उन्हें तुष्टि प्रदान नहीं कर पाती, उसे तुष्टि की वस्तु मान लिया जाता है। अतएव नारद मुनि अपने निजी अनुभव से बताते हैं कि इन्द्रियतृप्ति में निरत ऐसे हताश लोगों की तुष्टि भगवान् की लीलाओं के निरन्तर कीर्तन से हो सकती है। बात इतनी-सी है कि विषयवस्तु को केवल बदल देना होता है। न तो कोई किसी

जीव को सोचने से रोक सकता है, न अनुभव करने, चाहने या कार्य करने से रोक सकता है। किन्तु यदि कोई वास्तविक सुख चाहता है, तो उसे केवल विषयवस्तु बदलनी होगी। उसे चाहिए कि वह मर्त्य मनुष्य की राजनीति की चर्चा न चलाकर स्वयं भगवान् द्वारा संचालित राजनीति की चर्चा चलाए। वह सिनेमा पात्रों के कार्यकलापों में रुचि न दिखाकर भगवान् की उनके नित्य पार्षदों, यथा गोपियों तथा लक्ष्मीयों, के साथ की लीलाओं की ओर ध्यान दे। सर्वशक्तिमान भगवान् अपनी अहैतुकी कृपावश पृथ्वी पर अवतरित होते हैं और संसारी पुरुषों की ही भाँति अपने कार्य दिखलाते हैं, लेकिन साथ ही, वे होते अद्वितीय हैं, क्योंकि वे सर्वशक्तिमान हैं। वे समस्त बद्धजीवों के लाभ के लिए ऐसा करते हैं, जिससे वे लोग अध्यात्म की ओर ध्यान दें। ऐसा करने से बद्धजीव क्रमशः दिव्य पद पर उन्नत होता है और समस्त कष्टों के स्रोत इस भवसागर को पार करता है। श्री नारद मुनि—जैसे प्रामाणिक अधिकारी ने अपने निजी अनुभव से ऐसा कहा है। हमें भी ऐसा ही अनुभव हो सकता है, यदि हम भगवान् के प्रियतम भक्त, इस ऋषि के चरणचिह्नों का अनुसरण करने लगे।

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।

मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यम-आदिभिः—आत्मसंयम का अभ्यास करने की विधि के द्वारा; योग-पथैः—योग (दैवी अवस्था प्राप्त करने के लिए यौगिक शारीरिक शक्ति) पद्धति के द्वारा; काम—इन्द्रियतुष्टि की इच्छा; लोभ—इन्द्रियों की तुष्टि के लिए लालच; हतः—समाप्त; मुहुः—सदैव; मुकुन्द—भगवान्; सेवया—की सेवा द्वारा; यद्वत्—जिस रूप में; तथा—उसी प्रकार; आत्मा—आत्मा; अद्धा—समस्त व्यावहारिक कार्यों के लिए; न—नहीं; शाम्यति—तुष्ट हो।

यह सत्य है कि योगपद्धति के द्वारा इन्द्रियों को वश में करने के अभ्यास से मनुष्य को काम तथा लोभ की चिन्ताओं से राहत मिल जाएगी, किन्तु इससे आत्मा को सन्तोष प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि यह सन्तोष भगवान् की भक्तिमय सेवा से ही प्राप्त किया जा सकता है।

तात्पर्य : योग का लक्ष्य है इन्द्रियों का संयम। आसन, विचार, भाव, इच्छा, एकाग्रता, ध्यान तथा अन्त में अध्यात्म में लीन हो जाने की यौगिक प्रक्रिया का अभ्यास करके मनुष्य इन्द्रियों को वश में कर सकता है। इन्द्रियाँ विषैले सपों के तुल्य हैं और योग पद्धति उन्हें केवल वश में करने

के लिए होती है। इसके विपरीत, नारद मुनि इन्द्रियों के निरोध की दूसरी विधि बताते हैं जो भगवान् मुकुन्द की दिव्य प्रेमाभक्ति है। वे अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं कि भगवान् की भक्तिमय सेवा इन्द्रियों को वश में करने की कृत्रिम विधि की तुलना में अधिक व्यावहारिक तथा प्रभावशाली है। भगवान् मुकुन्द की सेवा करने से इन्द्रियाँ दिव्य रूप से सेवा में लगी रहती हैं। इस प्रकार उनके इन्द्रियतुष्टि में लगने का अवसर ही नहीं रह जाता। इन्द्रियों को कुछ काम चाहिए। कृत्रिम ढंग से उन्हें रोकना कोई रोकना नहीं है, क्योंकि ज्योंही भोग का कोई अवसर आता है त्योंही साँप जैसी इन्द्रियाँ अवश्य उसका लाभ उठाना चाहती हैं। इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं—यथा विश्वामित्र मुनि का मेनका के सौंदर्य पर मोहित होना। इसी तरह सुन्दर वस्त्रों से सज्जित होकर माया आधी रात के समय ठाकुर हरिदास को मोहने आई, किन्तु वह इस भक्त को अपने जाल में फँसा न सकी।

भाव यह है कि भगवान् की भक्तिमय सेवा के बिना न तो योग पद्धति, न ही शुष्क चिन्तन कभी सफल हो सकता है। आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है सकाम कर्म ध्यानयोग, या शुष्क चिन्तन से रंजित हुए बिना भगवान् की शुद्ध भक्ति करना। ऐसी शुद्ध भक्तिमय सेवा दिव्य होती है और योग तथा ज्ञान की पद्धतियाँ ऐसी विधि से गौण होती हैं। जब दिव्य भक्ति के साथ किसी अन्य गौण पद्धति को मिला दिया जाता है, तो वह दिव्य नहीं रह जाती, अपितु मिश्रित भक्ति कहलाती है। *श्रीमद्भागवत* के रचयिता श्रील व्यासदेव आगे चलकर क्रमशः इन दिव्य साक्षात्कार की विभिन्न पद्धतियों का विस्तार करेंगे।

सर्वं तदिदमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ ।

जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चात्मतोषणम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सर्वम्—समस्त; तत्—वह; इदम्—यह; आख्यातम्—वर्णित; यत्—जो भी; पृष्टः—पूछा गया; अहम्—मैंने; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अनघ—निष्पाप; जन्म—जन्म; कर्म—कार्य; रहस्यम्—रहस्य; मे—मेरे; भवतः—तुम्हारा; च—तथा; आत्म—निजी, स्वयं; तोषणम्—तुष्टि।

हे व्यासदेव, तुम समस्त पापों से मुक्त हो। इस तरह, जैसा तुमने पूछा, उसी के अनुसार मैंने अपने जन्म तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए किये गये कर्मों की व्याख्या की है। यह तुम्हारे आत्म-संतोष के लिए भी लाभप्रद होगा।

तात्पर्य : व्यासदेव की जिज्ञासाओं की तुष्टि के लिए, अध्यात्म अवस्था से प्रारम्भ करके, भक्तिमय कार्य की पद्धति की सम्यक् विवेचना की गई है। नारद ने बताया है कि किस प्रकार दिव्य संगति के द्वारा भक्ति रूपी बीज बोया गया और वह किस तरह मुनियों से श्रवण करने पर धीरे-धीरे बढ़ता गया। ऐसे श्रवण से सांसारिकता से विरक्ति उत्पन्न होती है, यहाँ तक कि एक छोटे-से बालक ने अपनी एकमात्र संरक्षिका माता की मृत्यु के समाचार को ईश्वर का आशीर्वाद मान कर स्वीकार किया और वह तुरन्त ही भगवान् की खोज में निकल पड़ा। फिर भगवान् से साक्षात्कार करने की उसकी प्रबल इच्छा स्वीकार हुई, यद्यपि सांसारिक नेत्रों से भगवान् को देख पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है। उन्होंने यह भी बताया कि शुद्ध दिव्य सेवा करके मनुष्य किस प्रकार संचित कर्मों के फल से छुटकारा पा सकता है और किस प्रकार उन्होंने इस भौतिक शरीर को ही आध्यात्मिक शरीर में परिणत किया। केवल आध्यात्मिक शरीर को ही भगवान् के आध्यात्मिक परिमण्डल में प्रवेश मिलता है और केवल शुद्ध भक्त ही भगवद्धाम में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है। दिव्य अनुभूति के सारे रहस्यों का अनुभव नारद जी स्वयं करते हैं, अतएव ऐसे प्राधिकारी व्यक्ति से सुनकर ही भक्तिमय जीवन के फलों का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, जिनका सही-सही उद्धरण वेदों के मूल पाठ में भी मुश्किल से ही मिल पाता है। वेदों तथा उपनिषदों में इन सारी बातों के विषय में अप्रत्यक्ष संकेत हैं। उनमें प्रत्यक्ष रीति से कुछ भी विवेचित नहीं मिलता। अतएव *श्रीमद्भागवत* समस्त वैदिक साहित्य रूपी वृक्ष का परिपक्व फल है।

सूत उवाच

एवं सम्भाष्य भगवान्नारदो वासवीसुतम् ।

आमन्त्र्य वीणां रणयन् ययौ यादृच्छिको मुनिः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सम्भाष्य—सम्बोधित करके; भगवान्—सर्वशक्तिमान्; नारदः—नारद मुनि; वासवी—वासवी (सत्यवती) के; सुतम्—पुत्र को; आमन्त्र्य—बुलाकर; वीणाम्—वीणा, वाद्ययन्त्र; रणयन्—झंकात करते हुए; ययौ—चला गया; यादृच्छिकः—जहाँ इच्छा हो वहाँ; मुनिः—मुनि।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार व्यासदेव को सम्बोधित करके नारद मुनि ने उनसे विदा ली और अपनी वीणा को झंकात करते हुए वे अपनी उन्मुक्त इच्छा के अनुसार विचरण करने के लिए चले गये।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव पूर्ण स्वतन्त्रता चाहता है, क्योंकि यह उसका दिव्य स्वभाव होता है। और यह स्वतन्त्रता भगवान् की दिव्य सेवा से ही प्राप्त की जा सकती है। बहिरंगा शक्ति से भ्रमित होकर, प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र समझता है, लेकिन वास्तव में वह प्रकृति के नियमों से बँधा होता है। जब बद्धजीव इसी संसार में मुक्त भाव से विचरण नहीं कर सकता, तो फिर उसके एक लोक से दूसरे लोकों में जाने के विषय में तो कहना ही क्या? लेकिन नारद जैसे पूर्ण मुक्त व्यक्ति, जो निरन्तर भगवान् के यशोगान में लगे हों, न केवल पृथ्वी पर विचरण करने के लिए स्वतन्त्र हैं, अपितु ब्रह्माण्ड के किसी भाग के साथ ही साथ वैकुण्ठ के किसी भी भाग में विचरण के लिए भी उन्मुक्त हैं। हम उनकी स्वतन्त्रता के प्रसार तथा असीमता की कल्पना ही कर सकते हैं, जो भगवान् की स्वतन्त्रता जैसी ही है। उनके विचरण का न कोई कारण है, न कोई दायित्व है और न ही कोई उन्हें मुक्त विचरण से रोक सकता है। इसी प्रकार, भक्तिमय सेवा की दिव्य पद्धति भी स्वतन्त्र है। सम्भव है कि सारी क्रियाओं के बावजूद भी किसी व्यक्ति में यह विकसित न हो सके। इसी प्रकार, भक्तों की संगति भी स्वतन्त्र है। हो सकता है कि किसी भाग्यशाली को यह प्राप्त हो या किसी को हजार प्रयत्नों के बाद भी यह प्राप्त न हो पाये। अतः भक्ति के समस्त पक्षों में स्वतन्त्रता ही मुख्य धुरी है। स्वतन्त्रता के बिना भक्ति नहीं हो सकती। भगवान् को अर्पित स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि भक्त सभी तरह से आश्रित है। गुरु के पारदर्शी माध्यम से भगवान् की शरण में जाना जीवन की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना है।

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः ।

गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अहो—धन्य हो; देवर्षिः—देवताओं के ऋषि; धन्यः—सफल हो; अयम् यत्—जो कोई; कीर्तिम्—यश; शार्ङ्ग-
धन्वनः—भगवान् का; गायन्—गान करते हुए; माद्यन्—आनन्द लूटते हुए; इदम्—इस; तन्त्र्या—वाद्ययंत्र के सहारे;
रमयति—जीवन दान देता है; आतुरम्—विपन्न; जगत्—संसार ।

देवर्षि नारद धन्य हैं, क्योंकि वे भगवान् की लीलाओं का यशोगान करते हैं और ऐसा करके वे स्वयं तो आनन्द लूटते ही हैं और ब्रह्माण्ड के समस्त संतप्त जीवों को भी अभिप्रेरणा प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि अपनी वीणा भगवान् की दिव्य लीलाओं के यशोगान करने तथा ब्रह्माण्ड के समस्त दुखी जीवों को सहारा दिलाने के लिए बजाते हैं। इस ब्रह्माण्ड में कोई भी सुखी नहीं है और जिसे हम सुख के रूप में अनुभव करते हैं, वह माया का मोह है। भगवान् की माया इतनी प्रबल है कि मलभक्षी शूकर तक अपने को सुखी अनुभव करता है। इस भौतिक जगत के भीतर वास्तविक रूप में कोई भी सुखी नहीं हो सकता। श्रील नारद मुनि, दुखी वासियों को अभिप्रेरणा प्रदान करने के लिए सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य उन्हें भगवान् के धाम वापस ले जाना है। यही उद्देश्य उन सारे असली भगवद्भक्तों का है, जो इस महर्षि के पदचिह्नों पर चलते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत “नारद तथा व्यासदेव का संवाद” नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।